स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

भागवत-पत्रिका

उत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्माको आनन्द (प्रदान करे)।
भक्ति अधोक्षजकी अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मोंका श्रेष्ठ रीतिसे पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल बंधनकर ॥

वर्ष १८ | गौराब्द ४८६, मास—केशव २५, वार—गर्भोदशायी
शुक्रवार, २९ अग्रहायण, सम्वत् २०२९, १५ दिसम्बर १९७२ | संख्या ७

दिसम्बर १९७२

श्रीमद्भागवतीय श्रीकृष्णस्तोत्राणि

श्रीश्रुतदेवकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रम्

(श्रीमद्भागवत १०।८६।४४–४९)

श्रीश्रुतदेवने अपने अधीनस्थ व्यक्ति, आत्मीय स्वजन और सन्तानोंके साथ भगवान श्रीकृष्णके समीप उपस्थित होकर उनकी पदसेवा की। अतिथि सत्कारद्वारा उन्हें सम्मानित करनेके पश्चात् मुनियोंके साथ विराजमान उनकी इस प्रकारसे वे स्तुति करने लगे—

नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपुरुषः ।
यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ॥४४॥

हे परमपुरुष ! आप जिस समयसे सत्त्वादि गुणात्मक अपनी मायाशक्ति द्वारा इस जगतकी रचना कर आत्म सत्ताद्वारा उसमें प्रविष्ट हुए हैं, तभीसे हमने आपको प्राप्त किया है। हम लोगोंने केवल आज आपका दर्शन प्राप्त किया है ॥४४॥

यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते ॥४५॥

सोया हुआ पुरुष आपकी मायाद्वारा प्रेरित होकर मन ही मन स्वप्नमें कल्पित जगतकी सृष्टि कर उसमें प्रवेश करता है एवं उन-उन वस्तुओंके दर्शनादि कार्योंका अनुभव करता है। उसी प्रकार इस समय आपने भी हमें दर्शन दिया है ॥४५॥

शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाभिवन्दताम् ।
नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥४६॥

हे भगवन् ! निरन्तर आपकी कथा आदिके श्रवण, कीर्त्तन, अर्चन, वन्दन एवं परस्पर आपकी कथा-आलोचना परायण, मत्सरता आदि मलिनता शून्य महापुरुषोंके हृदयमें आप प्रकाशित होते हैं ॥४६॥

हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्तपेतगुणात्मनाम् ॥४७॥

आप सभी जीवोंके हृदयमें निवास करते हुए भी अपने कर्मोंसे विक्षिप्त चित्तवाले पुरुषोंके अहंकार आदि आत्मशक्ति द्वारा जाने नहीं जा सकते। आप उन लोगोंसे बहुत दूरमें रहा करते हैं। परन्तु आपके श्रवण, कीर्त्तनादि करनेवाले विशुद्ध हृदय युक्त व्यक्तियोंके निकट ही आप वर्त्तमान रहते हैं ॥४७॥

नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।
सकारणाकारणलिंगमीयुषे स्वमायया संवृतरुद्धदृष्टये ॥४८॥

हे प्रभो ! आप देह आदिमें आत्मबुद्धि रहित व्यक्तियोंके निकट परमात्मा रूपसे प्रकाशित होकर उन्हें मोक्ष प्रदान करते हैं एवं देह आदिमें आत्मबुद्धिवाले व्यक्तियोंको संसारमें प्रवृत्त कराते हैं। आप विराट रूपयुक्त प्राकृत मूर्त्ति एवं सच्चिदानन्द रूपयुक्त अप्राकृत मूर्त्ति—दोनों प्रकारकी मूर्त्ति विशिष्ट हैं; आपने अपनी मायाद्वारा अपनी दृष्टि अक्षुण्ण (सीमा रहित) एवं दूसरे मायाबद्ध जीवोंकी दृष्टि आवृत कर रखी है। ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥४८॥

स त्वं शाधि स्वभृत्यान् नः किं देव करवामहे ।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षगोचरः ॥४९॥

हे देव ! आपके सेवक हम लोग आपकी प्रीतिके लिए कौनसा कार्य करें, उसकी शिक्षा आप हमें प्रदान करें। आप मनुष्योंके नयनगोचर होने पर उसी क्षण ही उनके सांसारिक कष्टोंका अन्त हो जाता है ॥४९॥

॥ इति श्रीश्रुतदेवकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रं समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीश्रुतदेवकृत श्रीकृष्णस्तोत्र समाप्त ॥

कुछ समस्याओंका समाधान

आप लोगोंने मुझे तीन समस्याओंका समाधान करनेके लिए कहा है—(१) श्रीमन्महाप्रभुजीके मतानुसार मानवका सर्वप्रधान कर्त्तव्य क्या है ? (२) भागवतका सारार्थ क्या है ? (३) कृष्णभक्ति या कृष्णप्रेम क्या वस्तु है ?

पहले प्रश्नका समाधान यह है—पहले हमें यह जानना होगा कि 'हम कौन हैं ?' इसके पश्चात् हमारा कर्त्तव्य क्या है, यह सहज ही जाना जायगा। श्रीमद्भागवतमें यह श्लोक है—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसंभवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेत् अनुमृत्यु यावत्
निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥
(भा० ११।९।२९)

इस श्लोकमें 'निःश्रेयस्' की बात है। 'निःश्रेयस्' शब्दका अर्थ भगवानका अनुग्रह या भगवानकी कृपा है। यही जीवके नित्यमंगलकी प्रसविनी है। वर्त्तमान अवस्थामें हमने मनुष्य देह धारण किया है। यह मनुष्य शरीर ही भगवत्भजनका मूल है। मनुष्येतर शरीरसे हरिभजन नहीं होता। अचेतन वस्तु-समूह इन्द्रियोंके अभावमें विषय ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिए वे शब्द श्रवण या शब्द ब्रह्मके आवाहन (उच्चारण) करनेमें असमर्थ हैं। किन्तु हममें चेतनता है; इसलिए हम चेतनकी वृत्तिद्वारा शब्द ब्रह्मका श्रवण एवं कीर्त्तन कर सकते हैं। उस शब्द-ब्रह्मके श्रवण-कीर्त्तनद्वारा ही हमारे नित्य मंगलका उदय होता है।

हमारी इन्द्रियोंसे उत्पन्न पूर्व-पूर्व जन्मोंके एवं इस जन्मके भी ज्ञानकी अकर्मण्यता हम उपलब्धि कर चुके हैं। हमारी आकांक्षाकी पूर्त्ति नहीं हो रही है, यह देखकर हम आध्यक्षिक (प्राकृत) ज्ञानकी असम्पूर्णता एवं इन्द्रियद्वारा ग्रहण किये जानेवाले विषयोंकी अनित्यता और परिवर्त्तनशीलता उपलब्धि कर सकते हैं। जिसकी उपलब्धि करने पर सभी प्राकृत आकांक्षाएँ मिट जाती हैं, ऐसी सर्वोत्कृष्ट वस्तु प्राप्त करनेका सौभाग्य मनुष्य जन्ममें ही पाया जाता है। जब हम सोचते हैं कि हम बद्ध जीव हैं, तब स्थूल देह एवं सूक्ष्म देह की बात याद आ जाती है। इन दोनों अनित्य एवं परिवर्त्तनशील देह और मनका आत्माके साथ सामञ्जस्य करना उचित नहीं है। जब हम अपने चेतनकी वृत्ति स्वाधीनताका अपव्यवहार करते हैं, तभी हम स्थूल-सूक्ष्म देह द्वारा आवृत्त हो जाते हैं। जब हम परमात्मा परमेश्वरकी सेवाको भूल जाते हैं, तब हम अहंकार-विमूढ़ात्मा होकर अपने आपको प्रकृतिके भोक्ता एवं कर्त्ता होनेका अभिमान करते हैं। किन्तु ये सभी अभिमान प्राकृत हैं। जब हमारे चेतनकी वृत्ति बाहरी जगतके विषयोंको भोग करनेमें प्रमत्त रहती है, तभी यह वृत्ति मनके अधीन रहती है। यह मन आत्म-स्वरूपकी विरूपावस्था है। उस समय जीव जड़का भोक्ता बननेका अभिमान करता है। यह मन आत्माकी सुप्त अवस्थामें जाग्रत रहकर मुनीमके रूपसे कर्त्ताके अभिमानमें विषयभोग करता है। यह मन ही आत्माकी वंचना कर सुख-दुःख भोग करता है।

पुण्य-पापके अधीन होकर कभी स्वर्ग और कभी नरक भोग करता है। इसलिए यह मन ही आत्माका सबसे बड़ा शत्रु है। इस मनका दमन करना ही सभी शास्त्रोंका अभिप्राय है।

किन्तु जब हम सोचते हैं कि हम परमात्मा परमेश्वरके अंशरूप जीव हैं, परमेश्वरके साथ भिन्न भी हैं, अभिन्न भी हैं—चेतनांशमें अभिन्न एवं वे विभु चित् हैं एवं हम अणु चित् हैं—इस विचारसे भिन्न हैं, तब हम स्वरूपमें अवस्थित शुद्ध जीवात्मा हैं। किन्तु इसीलिए घटाकाश एवं महाकाश का विचार नहीं अवलम्बन करना होगा अर्थात् हमारे पाञ्चभौतिक शरीरके भंग हो जाने पर हमारी आत्मा परमात्माके साथ लीन हो जायेगी, ऐसा मायावादी विचार अवलम्बन नहीं करना होगा। हम अणुचित् जीव विभु चित् परमेश्वरमें परिणत नहीं होंगे। ससीम वस्तु कदापि असीम नहीं हो सकती। जीव और ईश्वरमें नित्य भेद वर्त्तमान है। हमारा सीमाबद्ध जड़ इन्द्रियगम्य ज्ञान सम्पूर्ण रूपसे यह प्रमाणित कर रहा है कि हम अर्थात् जीव कदापि 'ईश्वर' पदवाच्य नहीं हो सकते। ईश्वर षडैश्वर्यपूर्ण भगवान हैं, वे परब्रह्म एवं अत्यन्त बृहत् हैं। उनके समान या उनसे भी बढ़कर और कोई भी नहीं है। हे जीव! तुममें वह भगवत्ता कहाँ है? तुममें वह विभुता कहाँ है? तुममें असीमता कहाँ है? तुम जो ससीम हो, तुम जो क्षुद्र हो—क्षुद्रसे भी अत्यन्त क्षुद्र हो, एकबार भी क्या यह बात नहीं सोचते? श्रीकृष्णचैतन्यदेवने अपनी शिक्षाद्वारा यह बतलाया है कि हम कार्ष्ण-वस्तु हैं, हम वैष्णव अर्थात् कृष्ण सम्बन्धी वस्तु हैं। हम कृष्ण या विष्णु नहीं हैं। कृष्णके ऐश्वर्य विग्रह ही विष्णु हैं एवं विष्णुके माधुर्य विग्रह ही कृष्ण हैं। वस्तुके विचारसे कृष्ण या विष्णुमें कोई भेद नहीं है। कार्ष्ण स्वरूपसे श्रीकृष्ण सेवाको छोड़कर हमारे लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है।

जभी हम कृष्ण सेवा भूल जाते हैं, तभी अपने स्वरूपको भूलकर हम मायाके फन्देमें फंस जाते हैं। तब मनका कार्य ही प्रबल होकर इन्द्रियों द्वारा विषय भोगोंमें मदमत्त हो जाते हैं। इस समय हमारी चेतनमयी वृत्ति देह और मनमें आबद्ध है। इसलिए विभिन्न इन्द्रियाँ हृषीकेश कृष्णकी प्रीतिके लिए नियुक्त न होकर विषय भोगोंमें प्रमत्त हैं। कृष्ण-पादपद्मसे विच्युत होकर जब मन हजारों विषयोंकी ओर दौड़ता है, तब हजारों दिशाओंसे हजारों विषय आकर बहुतसे पत्नीवाले गृह-स्वामीकी तरह मनको अस्त व्यस्त कर देते हैं। इस कारणसे हम कृष्णसेवासे वंचित होकर 'विषयी' कहलाते हैं। किन्तु जब साधु, गुरु, वैष्णवकी कृपासे हम अपनी आत्माके स्वरूपमें स्थित होते हैं अर्थात् हममें सम्बन्ध ज्ञानका उदय होता है, तभी हम कृष्णसेवाके लिए व्यस्त होते हैं, तब हमारे स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरकी अनुभूति क्रमशः शिथिल हो जाती है। उस समय हम जागतिक कर्त्तव्य बुद्धिसे छुटकारा पाकर विषयोंको कृष्ण सम्बन्धमें नियुक्त करनेका सौभाग्य प्राप्त करते हैं। तब हम यह समझ सकते हैं कि हम कृष्णके नित्य दास हैं एवं 'ईशावास्यमिदं सर्वं' अर्थात् जागतिक सभी वस्तुएँ ही भगवानकी सेवाके उपकरण हैं, ऐसा हमें ज्ञान होता है।

सम्बन्ध ज्ञानका उदय होने पर हम यह समझ सकते हैं कि वैकुण्ठ धाममें प्राकृत मलिनता नहीं है एवं नश्वर मर्त्य-जगतमें वैकुण्ठकी अनुभूति नहीं है । मर्त्य बुद्धिके कारण हम इस भ्रममें पतित होते हैं कि हम बद्ध जीव हैं, जन्म-मरणशील वस्तु हैं। इस समय हम स्थूल-सूक्ष्म आवरणद्वारा आवृत हैं। इसी भ्रमके कारण ही हम देह और मनमें आत्म-बुद्धि कर अहंकार-विमूढ़ात्मा जड़भोक्ताके रूपमें अपना परिचय दिया करते हैं । किन्तु साधुसंगके प्रभावसे हम जड़ अभिमानका परित्याग कर भगवानके पादपद्मोंके निकट पहुँच सकते हैं। इस समय प्राकृत इन्द्रिय-ज्ञान ही हमारा मूल-धन है। यह त्रिगुण-ताड़ित स्थूल इन्द्रिय-ज्ञान हमें जड़ीय विषय ग्रहण करने की योग्यता प्रदान करता है । देह और मन जड़ेन्द्रियोंकी सहायतासे जड़ भोक्ता हैं। आत्मा की जड़ इन्द्रियाँ नहीं हैं, वह चिन्मयी इन्द्रियोंद्वारा कृष्ण-इन्द्रिय प्रीति-विधानकारी कृष्णदास है।

तटस्थ धर्मके कारण जीव चित् और अचित् जगतके बीचमें अवस्थित है । चिच्छक्तिके आश्रयसे मुक्त अवस्थामें चिन्मय धाममें कृष्ण-सेवा-सुख पानेकी योग्यता जीवमें है । अचिच्छक्ति या मायाशक्तिके भोक्ताके अभिमानसे बद्ध अवस्थामें चौदह भुवनमय ब्रह्माण्डों शुभाशुभ कर्मके अधीन होकर कभी स्वर्ग, तो कभी नरकमें भ्रमण करनेका अधिकार भी उसे प्राप्त है। मुक्त अवस्था और कुछ भी नहीं है, वह केवल अपने स्वरूपमें अवस्थित होकर अपनी सभी चिन्मय इन्द्रियोंद्वारा अनुकूलतासे कृष्णका अनुशीलन है । जब हम अपने स्वरूपको भूल जाते हैं, तब ही हम मायाकी दासता करने जाकर जगतके रूप, गुण, शब्द, स्पर्श, गन्धरूप पाँच अनित्य विषय भोगोंमें प्रमत्त होते हैं। किन्तु इस जगतमें विशुद्ध सुख नहीं है। जो कुछ भी सुखका आभास यहाँ देखा जाता है, वह दुःखका ही नामान्तर है । इस मोह-गर्त्तके आवर्त्तमें पड़कर हम यह नहीं जान पाते कि हम किसलिए यहाँ आए, कहाँ हमें जाना है एवं कौन हमारा नित्य बांधव है। स्वतन्त्रताका अपव्यवहार ही इसका मूल कारण है । अर्थात् हम चेतन वस्तु हैं, 'हम जगतके विषयोंको भोग करनेके अधिकारी हैं'— जभी हम इस अभिमानके अधीन होते हैं, तभी कर्मके चक्करमें पड़कर कभी तो सुख, और कभी दुःख भोग किया करते हैं। किन्तु जब साधु-गुरु-वैष्णवोंकी कृपासे हम दिव्य ज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय हम यह जान सकते हैं कि जड़ विषयोंका भोक्ता हमारा स्थूल शरीर है एवं संकल्प-विकल्प करने वाला मन स्वरूप-रूपकी सेवासे हमें विच्युत कर भोक्ताभिमान कराता है। हमारी आत्मा इस समय सुप्त है इसलिए आत्माका प्रतिनिधि अर्थात् मुनीमरूप मन त्रिगुणोंसे ताड़ित होकर जड़के भोक्ता अभिमानसे आत्माको नित्य चिदानन्दसे वंचित कर रहा है। किन्तु जब आत्माकी जागृति होती है, उस समय उसे यह ज्ञान होता है कि परमात्मा रूपी कृष्णकी नित्य सेवा ही उसके स्वरूपका नित्य धर्म है।

बद्ध अवस्थामें हममें पाँच प्रकारका

सम्बन्ध देखा जाता है । हम यह सम्बन्ध अपने आत्मीय-स्वजनोंके बीच स्थापन करते हैं । हममें जो उदित विवेकी एवं सारग्राही हैं, वे इस जगतके पाँच प्रकारके सम्बन्धकी अनित्यता जानकर श्रीभगवानके साथ इन पाँच प्रकारके सम्बन्धोंसे सम्बन्धित होते हैं । हममें जो कर्मी हैं, वे इन्द्रियद्वारा उत्पन्न ज्ञानसे अधोक्षज वस्तु भगवानका साक्षात्कार न पाकर जड़ सुखोंमें प्रमत्त होते हैं । हममें जो निर्विशेष ज्ञानी हैं, वे इन्द्रियज्ञान द्वारा कर्मफल बाध्य न होकर त्रिपुटीका विनाशकर निर्विशेष ब्रह्ममें लीन होना चाहते हैं । हम इन कर्मकाण्डियोंके फलभोगवाद और ज्ञानकाण्डियों के फल्गु वैराग्यका आदर नहीं कर सकते । जब तक हम अक्षज ज्ञान या अहंग्रहोपासनाके फल्गुत्व (अस्थायिता) की उपलब्धि नहीं करेंगे, तब तक भुक्ति-मुक्ति-पिशाची हमारे हृदयमें प्रबलरूपसे अधिकार कर बैठती है । किन्तु जब हरि-गुरु-वैष्णवकी कृपासे हम उपास्य, उपासक और उपासनाका स्वरूप उपलब्धि कर सकेंगे, तब हम 'कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड केवल विषके भाण्ड हैं' ऐसा जान सकेंगे । जीवोंकी दुर्दशा देखकर जगद्गुरु श्रीकृष्णचैतन्यदेव कलियुगके युगधर्म पतितपावन श्रीनामसंकीर्त्तनका उद्बोधन कर गये हैं ।

वे संकीर्त्तन-प्रवर्त्तक कलिपावनावतारी महावदान्य हैं । उन्होंने तृणादपि श्लोकमें चार वाक्योंमें सर्वदा कृष्ण-कीर्त्तन ही जीवोंका एकमात्र कृत्य है, यह शिक्षा दी है । तृणसे भी सुनीच होकर, पेड़की तरह सहनशील होकर, स्वयं अमानी रहते हुए सभी व्यक्तियोंको यथायोग्य सम्मान देकर सर्वदा हरिकीर्त्तन करना ही जीवोंका एकमात्र श्रेयः है । श्रीचैतन्य महाप्रभु कलि-हत जीवोंको भव-व्याधि नाशक श्रीहरिनाम-संकीर्त्तनरूप महौषधि प्रदान कर महावदान्य हैं । जो व्यक्ति परमानन्द प्राप्त करना चाहते हैं, नित्यानन्द-धनसे धनी होनेके अभिलाषी हैं, वे उच्च स्वरसे श्रीनामसंकीर्त्तन करें । ये हरिनाम श्रीहरिसे अभिन्न हैं । वे नित्य शुद्ध, पूर्णमुक्त, चिंतामणि, कृष्णचैतन्य-रसविग्रह हैं । ये हरिनाम जागतिक शब्द-सामान्य नहीं हैं । इन हरिनामकी अल्लाह, God, ब्रह्म, परमात्मा अथवा भिन्न-भिन्न देशोंके मनःकल्पित उपास्य विग्रहके साथ तुलना नहीं करनी होगी । आभिधानिक शब्द हमें जो प्रत्यक्ष ज्ञान प्रदान करते हैं, वह खण्ड और असम्पूर्ण है । उन शब्दोंमें एवं उनके द्वारा लक्षित वस्तुओंमें मायाका व्यवधान (ओट) है । वे शब्द कुछ वस्तु नहीं हैं । किन्तु परव्योममें प्रकटित नाम नामीके रूप-गुण-लीला आदिसे अभिन्न है ।

जड़ शब्द हमें जड़-ज्ञान और जड़ानन्द दे सकते हैं, कृष्ण-ज्ञान या कृष्णानन्द नहीं दे सकते । किन्तु शब्द-ब्रह्म कृष्णनाम हमें कृष्ण-ज्ञान और कृष्ण-प्रेम दे सकते हैं । इसलिए श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने इस जड़ कोलाहलसे हमारा उद्धार करनेके लिए श्रीगुरु-मुख-पद्मसे विगलित कृष्ण-कोलाहल श्रवण करनेका उपदेश दिया है । गुरुदेव ही दिनरात सौ प्रतिशतमें से सौ प्रतिशत कृष्ण-कीर्त्तन द्वारा कृष्णेन्द्रिय प्रीतिविधानमें व्यस्त हैं । वे 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञानके मूलोत्पाटन करनेवाले तृणादपि सुनीच हैं । वे बहिर्मुख जीवोंके या जगतके नाना-प्रकारके अत्याचार, अविचार, असुविधा और नाना प्रकारकी विघ्न बाधाएँ

होने पर भी वृक्षकी तरह सहनशील हैं । वे जगतके प्रत्येक जीवको--प्रत्येक वस्तुको हरि-कीर्त्तन-प्रचाररूप सेवा-सौभाग्य प्रदान कर अमानी और मानद हैं । वे जागतिक ऐश्वर्यमें, सभी विषयोंमें विषयी होकर भी निर्विषयी हैं । वे 'ईशावास्यमिदं सर्वं' मन्त्रमें नित्य दीक्षित हैं ।

विष्णु-मन्त्रमें दीक्षित, निरन्तर विष्णुकी उपासना करने वाले अपनेको 'चित्कण जीव कृष्णका नित्यदास' जानकर जगतके प्रत्येक जीवको कृष्णभोग्य और प्रत्येक वस्तुको कृष्णसेवाके उपकरणके रूपमें जानते हैं । वे कर्मीकी तरह जड़ोन्नतिवादी या रावणके सीढ़ी बाँधनेकी तरह निर्विशेष ज्ञानी नहीं हैं। भगवत् भक्त भेड़की चाल जैसे चिता स्रोतमें अपने आपको बहा नहीं देते । वे जागतिक कनक-कामिनी-प्रतिष्ठाके लालची नहीं हैं। इसलिए लोगोंकी प्रशंसा या निंदामें समदृष्टि युक्त और अदोषदर्शी हैं—लोक धर्म, वेदधर्म, सामाजिक ताड़ना, भर्त्सना, घृणा, लज्जा आदिके प्रति उदासीन रहकर विप्रलम्भ भावसे कृष्णकीर्त्तनमें सर्वदा व्यस्त हैं। वे श्रौत पन्थामें जीवोंके नित्य मंगल करनेके लिए कृष्ण कीर्त्तनमें प्रमत्त हैं। सब समय कृष्ण-कीर्त्तनको छोड़कर जीवोंका और कोई कर्त्तव्य नहीं है, यही उनके प्रचारका विषय है । अधोक्षज श्रीकृष्णके इन्द्रिय-तर्पणको छोड़कर उन्हें और कोई अभिलाषा नहीं है। श्रीकृष्णके नाम, स्वरूप और श्रीविग्रह श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं । यही श्रीकृष्णका स्वरूप, श्रीनामका स्वरूप और अपना स्वरूप जानकर कृष्णकीर्त्तन ही श्रीकृष्णचैतन्यदेव द्वारा उद्दिष्ट नाम संकीर्त्तन है ।

जब तक लेशमात्र भी देह और मनकी स्मृति रहती है, तब तक कृष्ण-कीर्त्तन नहीं होता । साधु-गुरु-वैष्णवोंकी कृपासे जितना ही सम्बन्ध-ज्ञानका उदय होता है, उसी परिमाणमें देह और मनकी स्मृति भी शिथिल होती जाती है एवं श्रीनाम-प्रभु जीव-हृदयमें उदित होते हैं । तब हृदयसे उनका उच्चारण होता है, वे जिह्वाके ऊपर शब्द रूपसे अनुक्षण नृत्य करते रहते हैं । श्रीनामका स्वरूप साक्षात् सच्चिदानन्द विग्रह है । श्रीनाम प्रभुकी कृपासे जीवके शुद्ध सत्त्वमें सच्चिदानन्द भगवद्विग्रह स्फुरित होते हैं । सरलतापूर्ण हृदयमें, चिन्मय नयनोंमें, सेवोन्मुख जिह्वामें, श्रवणोन्मुख कर्णमें, कृष्णेन्द्रिय प्रीति-वाञ्छायुक्त इन्द्रियोंमें अखिलरसामृतसिन्धु श्रीकृष्ण स्फुरित होते हैं । सेवा-विमुख या कृष्ण-बहिर्मुख अवस्था में श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीला आदि जड़ेन्द्रियग्राह्य नहीं है । कृष्णनाम संकीर्त्तनसे सभी प्रकारके अभीष्ट पाये जाते हैं । कृष्ण-संकीर्त्तनके आभाससे सभी प्रकारके पाप नष्ट हो जाते हैं और संसार बंधन शिथिल होता है । तब नामाभाससे मुक्त होनेपर जीव श्रीकृष्णसंकीर्त्तनके अधिकारी होते हैं । भगवानके भक्त अखिल रसामृतसिन्धु श्रीनाम संकीर्त्तनद्वारा ही कृष्णकी सेवा किया करते हैं।

जड़ जगतमें हम रस' नामक एक वस्तु देख पाते हैं । यह रस आस्वादनकी वस्तु होने पर भी नश्वर और घृणित है । किन्तु अखिल रसामृतसिन्धु श्रीकृष्णमें यह रस उन्नतोज्ज्वल है । यह रस पाँच प्रकारका है । जड़ रसके साथ इस चिद् रसका नित्य वैशिष्ट्य और भेद है । जड़ रस खण्ड और

असम्पूर्ण है, चिद् रसका हेय और विकृत प्रतिफलन है। कृष्णका स्वरूप 'रसो वै सः' है। यह चिद् रस आत्माकी चिन्मयी इन्द्रियों द्वारा ग्रहणीय है, जड़ेन्द्रियों द्वारा ग्रहणीय नहीं है। जड़ रस नित्यकाल स्थायी नहीं है, किन्तु चिद्रस या कृष्णप्रेम-रस जड़ रसकी तरह विकृत नहीं होता। जब तक हम श्रेष्ठतर कृष्ण-रसके रसिक नहीं होते अथवा कृष्ण-कथाके श्रवण-कीर्त्तनमें रुचि युक्त नहीं होते, तब तक हमारी जड़रस सम्भोगमें अनास्था या उदासीनता उदित नहीं होती। रसमय श्रीकृष्णकी सेवामें ही हमारे जीवनका चरम लक्ष्य वर्त्तमान है। हमारे अपने सुखके लिये श्रीकृष्णकी सेवा करना उचित नहीं है। हृषिकेशकी इन्द्रियोंके प्रीति-विधानमें हमारी इन्द्रियोंको नियुक्त रखना उचित है। जगतमें जो कुछ भी सामग्रियाँ देखी जाती हैं, उन सभीके भोक्ता और कर्त्ता गोविन्द हैं। श्रीकृष्ण सेवोन्मुख जिह्वा और इन्द्रियोंद्वारा ग्राह्य हैं। विद्वद् रूढ़ि वृत्ति (शब्दकी मुख्यतम वृत्ति) में शब्दके तात्पर्यमें कृष्ण कीर्त्तनको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। दूसरी ओर यदि हम कृष्ण-कीर्त्तन और कृष्णेन्द्रिय प्रीति विधानको भूल जाँय, तो हम स्वार्थकी दुर्गन्ध-पूर्ण विषय-विष्टा गर्त्तमें गिर पड़ेंगे। तब "रसो वै सः" कृष्णकी सेवाको छोड़कर और दूसरी वस्तुकी सेवा हो जायगी।

अखिलरसामृतसिन्धु कृष्ण हमारी समस्त इन्द्रियोंके अधिपति हृषीकेश या गोविन्द हैं। हम उनकी कृपासे वञ्चित होने पर अचेतनकी सेवामें नियुक्त होकर अचेतन वस्तुकी तरह हो जायँगे। उस समय चिन्मय रस हमारा परित्याग करेगा और जड़ रसकी वञ्चना द्वारा हमारा जीवन अकर्मण्य हो जायगा। किन्तु श्रीकृष्ण परम दयालु हैं, वे हमें जड़ रससे आकर्षण कर अपने पादपद्म मधुका पान करानेके लिये प्रमत्त कराते हैं। उनके नाम संकीर्त्तनसे हमारे सभी प्रकारके अमंगल दूर होते हैं एवं हमारे चित्तके निर्मल होने पर उसमें वे उदित होते हैं।

अखिलरसामृतसिन्धु श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीला आदि श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं। श्रीकृष्णनाम नित्य, शुद्ध और पूर्ण मुक्त हैं। नाम-नामी अभिन्न हैं। जागतिक शब्द-शब्दी के साथ कृष्णनामकी तुलना नहीं करनी होगी। कई समय हम कृष्णनामके साथ शब्द-सामान्यकी तुलना करने जाकर भ्रममें पतित होते हैं। इसी भ्रमके कारण हम नाम और नामापराधको एक मान बैठते हैं। नाम नामापराध नहीं है और नामापराध नाम नहीं है। नाम निर्मल भास्कर है और नामापराध घने अंधकारकी तरह है। नाम पूर्ण और अखण्ड वस्तु है। हम इन्द्रियोंकी चालनामें दूसरी-दूसरी इन्द्रियोंकी सहायता ग्रहण किया करते हैं, किन्तु कृष्ण और कृष्णनाम स्वतन्त्र वस्तु है। कृष्णनाम उच्चारण करनेमें दूसरी चारों इन्द्रियोंकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती। कृष्णनाम उच्चारण करनेसे श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीला आदि स्वयं प्रकाशित होते हैं। जड़ जगतके शब्द-उच्चारण में उसके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके लिये दूसरी चार इन्द्रियोंकी सहायता आवश्यक है, किन्तु कृष्णनाम उच्चारणके

साथ-साथ कृष्णके रूप, गुण, लीला और परिकर-वैशिष्ट्य स्वयं स्फुरित होते हैं। कृष्णनामके साथ देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि दूसरे प्राणियोंके जड़ीय नामोंकी तुलना नहीं करनी होगी। कृष्णनाम कोई आभिधानिक शब्द या धातुद्वारा निष्पन्न संज्ञा नहीं है। कृष्णनाम किसी मायिक वस्तुद्वारा आवृत होने योग्य वस्तु नहीं है, कृष्णनाम स्वतन्त्र और स्वेच्छामय हैं। जड़ ब्रह्माण्डके शब्द और शब्दकी उद्दिष्टवस्तु में मायिक भेद है। किन्तु वैकुण्ठधाममें शब्द और शब्दीमें, नाम और नामीमें, स्वरूप और विग्रहमें कोई मायिक व्यवधान या पार्थक्य नहीं है।

इस कलियुगमें सभी जीव जड़ीय ज्ञान और जड़ सम्बन्धमें प्रमत्त हैं। उनके स्थूल इन्द्रिय-ज्ञानकी गति आत्मेन्द्रिय तर्पणमें नियुक्त है। किन्तु श्रीकृष्णनाम उच्चारण करने पर चित्त-दर्पण मार्जित होता है, भव-दावाग्नि शान्त हो जाती है, हृदयमें चिर शान्तिका सिंहासन प्रतिष्ठित होता है। जितना ही बाधा विघ्न क्यों न रहें, श्रीकृष्ण नाम अशेष बाधा-विघ्नको हरण करनेवाले हैं। हृदयमें जितना ही कुसंस्कार रूप आवर्जना क्यों न रहें, कृष्णनाम उच्चारणसे हृदय प्रफुल्ल होता है। सभी भूल-भ्रान्ति विदूरित होती है। अवश्य नामोच्चारणकालमें प्रथम अवस्थामें हृदयमें जन्म-जन्मान्तरकी बहिर्मुखता, इतर वाञ्छा और अनर्थ-राशि रहनेके कारण शुद्धनाम उच्चारित नहीं होता; किन्तु अविश्रान्त नामोच्चारणके प्रभावसे वे सभी अनर्थ क्रमशः दूर हो जाते हैं।

बहिर्मुख ज्ञानद्वारा चालित होकर हमारे रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्धद्वारा आक्रान्त अनेक जागतिक विषय मानस-पटलमें अंकित हैं। वे अंकित चित्र त्रिगुणताड़ित चित्तको कलुषित कर विपद्गामी कराते हैं। नामोच्चारण प्रभावसे नामदेवकी कृपासे जड़ विषयोंका प्रभाव कम होकर चित् प्रभावका विस्तार होता है। साधु गुरु मुखसे नामोच्चारण करनेके पूर्व दश प्रकारके अपराधोंका विषय श्रवण करना आवश्यक है। दश अपराध रहित होकर नामोच्चारण नहीं करनेसे हम चिन्मय धाममें प्रवेश करनेका अधिकार नहीं प्राप्त कर सकते। यदि हम साधु-गुरु-वर्गके प्रति मर्त्यबुद्धिके कारण असूया प्रकाश करें या उन्हें हमारी तरह भ्रान्त जीव समझें अथवा जो व्यक्ति ऐसी साधु-निंदा करें, उन्हें प्रश्रय दें, तो साधुनिंदारूप प्रथम नामापराध हो जायगा। यदि कृष्णको अन्यान्य देवताओंके साथ समान समझें और कृष्णनामकी सर्वोत्तमता स्वीकार न कर अन्य देवताओंको स्वतन्त्र ईश्वर समझकर उनके नामके साथ कृष्णनामकी तुलना करें तो हमारा द्वितीय नामापराध होगा। कृष्णनाम सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञापक, नित्य, शुद्ध, पूर्ण, मुक्त, नाम-नामी अभिन्न हैं। कृष्णनामको छोड़कर दूसरे नाममें नित्यत्व, पूर्णत्व, शुद्धत्व और मुक्तत्व नहीं है। वे सभी नाम आपेक्षिक धर्मयुक्त हैं, किन्तु कृष्णनाम स्वतन्त्र और स्वराट् हैं। नाम श्रवणसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। शुद्ध अन्तःकरणमें श्रीकृष्णके रूपकी स्फूर्त्ति होती है, रूपकी सम्यक् स्फूर्त्ति होने पर गुणकी स्फूर्त्ति होती है। गुणकी सम्यक् स्फूर्त्ति होने पर परिकर-वैशिष्ट्यकी एवं उसके पश्चात्

लीलाकी सम्यक् स्फूर्त्ति होती है। इन सभी विषयोंमें तत्त्व ज्ञानके अभावमें दूसरा नामापराध अवश्यंभावी है। इसलिए कृष्णनामके साथ दूसरे-दूसरे नामोंकी तुलनारूप अपराध करना हमारे लिए उचित नहीं है।

कृष्णनाममें ही सर्वशक्ति सभी सुविधाएँ एवं सम्पूर्ण आनन्द है। दूसरे नामोंमें संकीर्णता, सीमाबद्धता, असम्पूर्णता रहनेके कारण आंशिक खण्ड ज्ञान और आंशिक आनन्द उनमें देखा जाता है। किन्तु कृष्णनाम अखण्ड, पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञानमय हैं। ब्रह्म और परमात्माके नाम उस प्रकार पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द देनेवाले नहीं हैं। दही और दूधको समान समझना हमारी निर्बुद्धिताका परिचय है। दूधसे दही उत्पन्न होने पर भी दही दूध नहीं है या दूधसे स्वतन्त्र पदार्थ भी नहीं है। उसी प्रकार कृष्णनाम त्रिगुणताड़ित हृदयमें उदित न होनेके कारण नाना रूपमें नाना वस्तु देखे जाते हैं। निर्गुण हृदयमें निर्गुण कृष्णनाम उदित होते हैं। सगुण हृदयमें सगुण देवता उदित होते हैं, कृष्णनाम उदित नहीं होते।

कृष्ण ही हमारे एकमात्र उपास्य वस्तु हैं। प्रेमपूर्ण हृदयमें प्रेममय भगवानकी आराधना होती है। ऐश्वर्य-शिथिल प्रेमसे प्रेममय कृष्णकी सेवा नहीं हो सकती। अखिल रसामृतमूर्त्ति, कृष्णनामके साथ रामनाम (दाशरथि रामके नाम) की तुलना नहीं हो सकती। कृष्णनाममें जो रसामृत-सिन्धु छलकता है, रामनाममें उसके कोटि अंशका एक अंश भी नहीं होता। क्योंकि कृष्णनाम पूर्णतम हैं और रामनाम आंशिक हैं। कृष्णनाम पूर्णतम अवतारी और अंशी हैं। रामनाम पूर्ण, अवतार और अंश हैं। कृष्णनाम निर्गुण हैं, वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं; वे समस्त सत्ता, समस्त ज्ञान और समस्त आनन्दके आकर (मूलस्रोत) हैं। वे सर्वकारण-कारण हैं। निष्कपट निर्गुण सेवकको प्रेम-सेवा वे ग्रहण करते हैं। अवतारी कृष्ण के नाममें जो आनन्दामृतकी खनि है वह ब्रह्मा, शंकरके नाममें नहीं है। अतएव ब्रह्मा, रुद्र आदि देवताओंकी कृष्णके साथ तुलना करना पाषण्डरूप द्वितीय नामापराध है।

किन्तु इसीलिए दूसरे-दूसरे आधिकारिक देवताओंके साथ श्रीरामचन्द्रकी तुलना करनी होगी, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि श्रीरामचन्द्र विष्णु, निर्गुण और सभी देवताओंके ईश्वर हैं। आधिकारिक देवता सगुण हैं, इसलिए मायावश होने योग्य हैं। श्रीरामचन्द्र मायाधीश हैं। श्रीकृष्ण अवतारी हैं, श्रीरामचन्द्र अवतार हैं। श्रीकृष्ण लीला-पुरुषोत्तम हैं। श्रीकृष्णमें लीला-माधुरी, वेणु-माधुरी, रूप-माधुरी और प्रेम माधुरी पूर्णमात्रामें हैं। श्रीरामचन्द्रमें ये सभी गुण प्रकाशित नहीं होनेके कारण वे ६० गुणोंसे पूर्ण नारायण हैं। चार रसोंद्वारा आंशिक रूपसे श्रीरामचन्द्रकी उपासना होती है। किन्तु पाँच रसोंद्वारा परिपूर्ण मात्रामें श्रीकृष्ण ही एकमात्र सेव्य उपास्य-विग्रह हैं। सत्त्वगुणके अधिष्ठातृ देवता विष्णु पालनकर्ता हैं, रजोगुणके अधिष्ठातृ देवता ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता हैं, एवं तमोगुणके अधिष्ठातृ देवता रुद्र संहारकर्त्ता हैं। ऐसा होने पर भी सत्त्वतनु विष्णुकी उपासना ही श्रेयस्कर है।

त्रिशक्ति धारणकारी महाविष्णु ही सत्त्वगुणके आश्रयमें पालनकर्ता हैं, रजोगुणके आश्रयमें सृष्टिकर्त्ता हैं और तमोगुणके आश्रयमें संहार कर्त्ता हैं । इसलिए सत्त्वगुणके साथ रजस्तमोगुणको तुलना कर नारायणके साथ ब्रह्मा रुद्रादि देवताओंको समान मानना द्वितीय नामापराध है ।

गुरुकी अवज्ञा ही तीसरा नामापराध है। गुरु की अवज्ञा सर्व प्रकारसे परित्याग करने योग्य हैं । श्रीगुरुदेवकी कृपाके बिना मनुष्य जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और श्रीके कारण अहंकार विमूढ़ात्मा है । इसलिए भगवत्पादपद्मसेवा प्राप्त करनेमें असमर्थ है। श्रीगुरुदेव स्वयंरूप भगवानके स्वयं प्रकाश-विग्रह हैं। वे आश्रय जातीय सेवक भगवान हैं। फिर भी वे विषयजातीय सेव्य भगवानसे स्वतन्त्र नहीं हैं । श्रीगुरुपादपद्म लाला-पुरुषोत्तम श्रीनन्दनन्दनसे अचिन्त्य भेदाभेदतत्व-विशिष्ट हैं । जिस प्रकार सूर्यके प्रकाश द्वारा सूर्य दर्शन संभव है, कृत्रिम प्रकाशसे सूर्य दर्शन सम्भव नहीं है, उसी प्रकार गुरु कृपाबलसे विषयरूपी अनल सम्पूर्ण रूपसे शान्त होने पर कृष्ण साक्षात्कार प्राप्त होता है । स्थूल-इन्द्रिय-ज्ञान अत्यन्त बड़ा एवं समृद्धिसम्पन्न होने पर भी मापनेके धर्ममें अवस्थित है। इसलिए वैकुण्ठ प्रतीतिकी त्रिपाद विभूति तक पहुँचनेमें असमर्थ है। अतएव तुरीय अधोक्षज ज्ञान गुरु कृपाके बिना सम्भव नहीं है । हम अधोक्षज वस्तुके ज्ञान प्राप्त करनेके लिए जितनी ही चेष्टा क्यों न करें, श्रीगुरुपादपद्मके कृपाकणके बिना सभी चेष्टाएँ भूसेको कूटनेकी तरह व्यर्थ श्रम मात्र हैं। शास्त्र ज्ञानमें अधिकार-प्राप्ति श्रीगुरु कृपाबलके सापेक्ष है । अक्षज ज्ञानद्वारा शास्त्र ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा राखमें घी डालने की तरह निष्फल है । जड़ नयनोंकी सहायतासे आधा आकाश देखा जाता है, दूसरा आधा भाग अस्वच्छ पृथ्वीद्वारा आवृत्त है। जड़ आँखें द्वारा ३६०° डिग्री का चौथा भाग ९० डिग्री तक कोणज दर्शन सम्भव है। दूसरे ३ भागों का दर्शन नहीं होता । उसी प्रकार जड़ ज्ञानयुक्त तर्क पथ एकका चौथा अंश होने के कारण अधोक्षज ज्ञानके विपरीत है । अधोक्षज ज्ञान वास्तव सत्यमें प्रतिष्ठित है, इसलिए परिपूर्ण है। मानव ज्ञान ससीम, खण्ड और असम्पूर्ण होनेके कारण अधोक्षज ज्ञान जड़ेन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। किन्तु जब मनुष्य खण्ड ज्ञानकी अकर्मण्यता जानकर गुरु कृपा पानेके लिए सेवोन्मुख कानों द्वारा गुरु-मुखपद्मवाणी दिनरात पान करते हैं, तभी श्रीनाम प्रभु शब्द-ब्रह्म रूपसे सेवा परायण व्यक्तिके कानोंके पथसे प्रवेश कर उसके हृदयके सभी प्रकारके अनर्थ दूर कर वहाँ अपना आधिपत्य स्थापन करते हैं।

शास्त्रके शाब्दिक अर्चा-मूर्त्ति के ऊपर निर्भर करना हमें उचित है। वे हमारे अक्षज ज्ञानगम्य नहीं हैं। शास्त्रवाक्य या गुरुवाक्यमें अविश्वास करना हमारे लिए उचित नहीं है। भगवद् ज्ञान प्राप्त करना हो, तो शास्त्र और गुरु वाक्यमें श्रद्धायुक्त होना परमावश्यक है। शास्त्र वाक्योंका अनादर ही चौथा नामापराध है।

वैकुण्ठ नाम सभी पाप हरणकारी हैं। श्रीहरिनामद्वारा प्रारब्ध और अप्रारब्ध समस्त पापोंका प्रायश्चित होता है, सर्व पापबीज अविद्या (स्वरूप-भ्रम) दूर हो जाती है। नाम अशेष पापहारक होनेके कारण यदि हम नाम बलसे पाप आचरण करें तो हमारा

पाँचवाँ नामापराध होगा । यह अपराध मार्जनीय नहीं है । यज्ञ, दान, व्रत, तपस्या, अष्टांग योग आदि शुभ कर्मोंके साथ नामकी तुलना छटवाँ नामापराध है । हरिनाम कीर्त्तन कालमें अनवधानता सातवाँ नामापराध है । अश्रद्धालु व्यक्तिको हरिनाम का उपदेश आठवाँ नामापराध है । हरिनाम में अर्थवाद नौवाँ नामापराध है । 'मैं मेरी बुद्धि' के कारण नाम महिमा सुनकर भी नाम-ग्रहणमें प्रीति न होना दशवाँ नामापराध है । जो व्यक्ति हरिनामका आश्रय ग्रहण कर भजन प्रयास कर रहे हैं, उन्हें दस प्रकारके नामापराधोंका सम्पूर्णरूपसे परित्याग करना चाहिए ।

नाम भजन करनेवाले व्यक्ति आठ प्रकारकी विधियोंका पालन करेंगे—(१) श्रीगुरु वाक्यमें एवं शास्त्र वाक्यमें विश्वास या श्रद्धा । (२) नाम परायण साधुओंका संग । (३) साधु मुख विगलित हरिकथा का श्रवण और कीर्त्तन या भजन क्रिया । (४) उसके फलसे सब प्रकारके अनर्थोंकी निवृत्ति । साधन राज्यमें साधकोंके लिए इन चार प्रकारकी प्राथमिक भजन-प्रणालियोंका अवलम्बन करना आवश्यक है । उसके पश्चात् (५) नाम भजनकारीके लिए नाममें एकान्तिक निष्ठा होना आवश्यक है । निष्ठा कहनेसे निरन्तरताका बोध होता है । (६) सारसिकी रुचिके साथ नाम ग्रहण । (७) नाममें आसक्ति । (८) भाव भक्ति अर्थात प्रेम की पूर्वावस्था । इसे स्थायी रति कहते हैं । जिनका नाममें स्थायी रति या प्रीति का उदय हुआ है, उनके ये नौ लक्षण हैं—(१) क्षान्ति, (२) अव्यर्थकालत्व (३) विरक्ति, (४) मान-शून्यता, (५) आशाबन्ध, (६) समुत्कण्ठा, (७) नामगानमें सदा रुचि, (८) भगवानके गुणानुवादमें आसक्ति और (९) उनके वसतिस्थलमें प्रीति ।

भाव भक्तिमें या स्थायी रतिमें चार सामग्री मिलने पर रसकी उत्पत्ति होती है । उस समय हृदयकी ऐसी एक अवस्था होती है कि सब समय ही कृष्णेन्द्रिय प्रीति वाञ्छाके उद्देश्यसे विश्रम्भसे गुरुसेवा करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है । उस समय मन त्रिगुणताड़ित न होकर हरि-गुरु-वैष्णव सेवाका अभिलाषी होता है । प्राकृत जगतमें जो पाँच रस हैं, वे जड़ रस हैं । चिन्मय रसोंके साथ उनकी तुलना नहीं करनी होगी । क्योंकि चिन्मय रस अत्यन्त उपादेय एवं नवनवायमान हैं; किन्तु जड़रस अत्यन्त घृणित और अपवित्रता पूर्ण है ।

ईश्वर और जीवमें अभेद बुद्धि नहीं करनी होगी । ईश्वर मायाधीश हैं एवं जीव मायावश होने योग्य है । कृष्णेन्द्रिय प्रीति-वाञ्छा ही प्रेम है और आत्मेन्द्रिय प्रीति वाञ्छा ही काम है । कृष्णनाम संकीर्त्तन करनेसे नौ प्रकार की भक्तिका अनुष्ठान हो जाता है । भाव भक्तिकी घनीभूत अवस्था ही प्रेम भक्ति है, जो जीवोंकी नित्य प्रयोजनीय वस्तु है ।

पाँच प्रकारके रसोंमें से किसी एक रससे स्वरूपमें स्थित होकर अनुकूलताके साथ सभी इन्द्रियोंद्वारा कृष्णानुशीलन हो उत्तमा भक्तिका लक्षण है । तब कृष्णसेवा कर कृष्णके निकटसे हमें किसी वस्तुकी आकांक्षा करना उचित नहीं है । कृष्णके निकटसे कोई वस्तु माँगना,

कृष्णके भोगकी वस्तुमें भोगबुद्धि करना—यह बहुत बड़ा अपराध है । शुद्ध भक्त लोग कृष्णसे धन, जन, सुन्दरी स्त्री, पाण्डित्य एवं मोक्ष भी नहीं चाहते । वे जिस किसी जन्ममें उनके चरणोंमें अहैतुकी भक्ति ही चाहते हैं। इसलिए शुद्ध भक्त अप्राकृत कामदेवकी प्रीतिके लिए अनुकूलताके साथ सभी इन्द्रियों को नियुक्त करेंगे। यही निष्कपट आदर्श सेवा है। अपनी आत्माके स्वरूपमें इस सेवाका उदय होने पर नित्य मंगल होता है।

मनोधर्ममें वर्त्तमान फलभोगवाद या फलत्यागवादका परित्याग कर काय-मन-वचनसे श्रीगुरुदेवके आनुगत्यमें स्वरूपमें स्थित होकर सब समय हरि-गुण-वैष्णव सेवा करना ही हमारा चरम उद्देश्य है । इसीके फलसे उनकी कृपासे हम कृष्णप्रेम प्राप्त करेंगे ।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

भगवत्सम्बन्ध-राहित्यकी विफलता

क्रियासक्तान् धिग् धिग् विकटतपसो धिक् च यमिनः
धिगस्त ब्रह्माहं वदनपरिफुल्लान् जड़मतीन् ।
किमेतान् शोचामो विषयरसमत्ताञ्नरपशू-
न्न केषांचिल्लेशोऽप्यहह मिलितो गौरमधुनः ।।

नित्य-नैमित्तिक आदि क्रियाओंमें आसक्त कर्मजड़ स्मार्त्तोंके लिए धिक्कार है, उत्कट तपस्वियोंके लिए धिक्कार है, अष्टांग योगियोंके लिए धिक्कार है; 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य उच्चारण करने मात्रसे ही मुक्ताभिमानसे प्रफुल्लवदन अहंग्रहोपासक मायावादियोंके लिए भी धिक्कार है। ये सभी ही भगवत्सम्बन्ध रहित विषय-भोगोंमें मत्त हैं। इन सभी नरपशुओंके लिए किस लिए शोक करें ? हाय ! हाय ! इनमें से कोई भी गौरपादपद्म-मकरन्दका लेशमात्र भी प्राप्त नहीं कर सका ?

(श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती पादके श्रीचैतन्यचन्द्रामृतसे)

—*—

प्रश्नोत्तर

(मनोधर्म और मायावाद)

१. बद्धजीवका ध्यान मनका धर्म क्यों है ?

"ध्यान मनका धर्म है। मन जब तक शुद्ध चिन्मय नहीं होता, तब तक ध्यान कभी भी चिन्मय नहीं हो सकता।"

—जै० ध० ४ र्थ अ०

२. आत्मा, जगत् और मुक्तिके सम्बन्धमें मनोधर्मीकी क्या धारणा है ?

"कोई-कोई अनुमान करते हैं कि आत्मा प्रारम्भमें मनुष्यके आकारके रूपमें इस स्थूल जगतमें सृष्ट हुई है; संसारकी उन्नति रूप धर्म आचरण करनेसे क्रमशः आत्माकी उच्च गति होगी—इसी अभिप्रायसे परमेश्वरने इस जगतकी सृष्टि की है। कोई-कोई कहते हैं कि यह जड़ जगत मनुष्यकी बुद्धिद्वारा स्वर्गके समान होकर परमानन्द धाम-स्वरूप हो जायगा। कोई-कोई आत्माके एक शरीरसे दूसरे शरीर ग्रहण करने पर निर्वाणरूप मोक्ष हो जायगा—ऐसा स्थिर करते हैं। ये सभी सिद्धान्त अन्धे व्यक्तिद्वारा हाथीके आकारके निरूपणकी तरह वृथा तर्क मात्र हैं। सारग्राही व्यक्ति इन सभी वृथा तर्कोंमें प्रवेश नहीं करते; क्योंकि मनुष्यकी बुद्धिद्वारा इन सभी विषयोंके सिद्धान्त स्थिर नहीं होते।"

—'उपक्रमणिका', कृ० सं०

३. जड़-निःस्वार्थवाद क्या आकाशकुसुम-कल्पना नहीं है ?

"निःस्वार्थकी स्थिति असम्भव है। मिराबो (Mirabeou) नामके वन हलवाक् (Von Holback) ने 'सिस्टम आफ नेचर' (System of Nature) नामक जो ग्रन्थ सन् १९७० ई० में प्रचार किया है, उसी ग्रंथ में उन्होंने विशेष विचारके साथ लिखा है कि जगतमें निःस्वार्थपरता ही नहीं है; दूसरेके सुखद्वारा अपनेको सुखी करनेके कौशलको ही हम धर्म कहते हैं। हम भी देखते हैं कि निःस्वार्थपरता एक आकाशकुसुमकी तरह निरर्थक वाक्य-विशेष है। निःस्वार्थपरताका प्रयोजन यही है कि उसमें बिना किसी क्लेश के अपनेको सुख प्राप्त होता है। 'निःस्वार्थ' शब्द सुनकर अन्य स्वार्थ-प्रिय व्यक्तिद्वारा उसमें श्रद्धा करनेसे हमारा प्रिय कार्य सहजमें ही हो जायगा। मातृ-स्नेह, भ्रातृ-भाव, बन्धुता और स्त्री-पुरुषकी प्रीति क्या निःस्वार्थ पर है ? यदि इन सभी कार्योंमें अपना आनंद नहीं रहता, तो कोई ऐसा नहीं करता, कोई-कोई व्यक्ति आत्मानन्द लाभके लिये अपना जीवन तक त्याग कर देते हैं।"

—त० वि० १ म् अनु० ९-१२

४. शैतानका पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना क्या उचित है ?

"'शैतान' कहकर एक अद्भुत कार्य कल्पना न कर अविद्या-तत्त्वको अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है।"

५. कौन-कौनसे व्यक्ति मायावादी हैं ?

मायावादी—व्यक्ति समस्त सत् विषयोंमें माया लेकर विवाद उठाते हैं, ब्रह्मको मायासे अतीत मानकर ईश्वरको मायासंगी मानते हैं एवं ईश्वरके अवतारोंके शरीरको 'मायिक' कहते हैं, जीवके गठनमें मायाका कार्य है अर्थात् जीवकी सर्वप्रकार अहंबुद्धि मायाद्वारा निर्मित है—ऐसा कहते हैं। अतः जीव मुक्त होने पर शुद्ध जीव नामक और कोई अवस्था नहीं रहती, ऐसा सिद्धान्त करते हैं एवं मुक्ति होने पर ब्रह्मके साथ जीव अभेद हो जाता है—ऐसी शिक्षा देते हैं।"

—अ० प्र० भा० आ० ७।२९

६. अद्वैतवाद क्या वेदोंका सार्वदेशिक मत है ? अद्वैतवादकी जन्मभूमि कहाँ है ?

"बहुत दिनोंसे 'अद्वैतवाद' नामक एक वाद चला आ रहा है। वेदके एक प्रदेशमें आबद्ध होनेसे यह मत उदित हुआ है; अद्वैत-वादको यद्यपि भारतके बाहर भी बहुतसे पण्डितोंने प्रचार किया है, फिर भी यह मत भारतसे ही सभी देशोंमें व्याप्त हुआ है, इसमें सन्देह नहीं है। सिकन्दरके साथ कुछ पण्डित व्यक्तियोंने भारत आकर इस मतकी खूब अच्छी तरह शिक्षा प्राप्त की है, इस मतको आंशिक रूपसे उस देशके पण्डित लोगोंने अपनी-अपनी पुस्तकोंमें लिखा है।"

—त० सू०, ३० वाँ सू

७ मायावादी लोग बौद्धोंकी अपेक्षा भी अधिक निन्दनीय क्यों हैं ?

"बौद्ध शाक्यसिंह वेद-विधि न मानने से उनको वैदिक आर्य लोग नास्तिक कहकर उनकी निन्दा करते हैं, किन्तु मायावादियोंने वेदोंका आश्रय ग्रहण कर भी जो नास्तिक्य-वाद प्रकाश किया है, वह बौद्धवादसे भी अधिक निन्दनीय है, क्योंकि स्पष्ट रूपमें शत्रुसे मित्र रूपमें आया हुआ प्रच्छन्न शत्रु अधिक भयंकर होता है।"

—अ० प्र० भा०, म ६।१६८

८. मायावादियोंका भाष्य क्या व्याससूत्र के विरुद्ध नहीं है ?

"व्यासजीके सूत्रोंमें शुद्ध-भक्तिवाद है। मायावादियोंने उस वेदान्त सूत्रका जो भाष्य किया है उसमें परब्रह्मका चिन्मय विग्रह अस्वीकार किया है एवं जीवकी ब्रह्मसे पृथक् सत्ता भी अस्वीकार होनेसे वह शुद्ध-भक्ति तत्त्वके सम्पूर्ण विरुद्ध है।"

—अ० प्र० भा० म ६।१६९

९. जीव-सत्ता क्या ब्रह्म-विवर्त्त हो सकती है ?

"जीव नित्यसिद्ध चित् वस्तु है; जीवका वास्तवमें बन्धन या क्लेश नहीं है; केवल शरीरमें आत्मबुद्धि रूपी अभिमान नामक विवर्त्त-भ्रमसे ही इस जीवको इतना कष्ट हो रहा है। रस्सीको सर्प माननेका भ्रम एवं सीपको चाँदी माननेका भ्रम—ये दो ही विवर्त्तके वैदिक उदाहरण हैं। इन दोनों उदाहरणोंको अच्छी तरह न समझ सकनेके कारण मायावादी लोग जीवकी सत्ताको ही ब्रह्म-विवर्त्त कहकर भ्रममें पड़े हुए हैं। सद्गुरुकी कृपासे जब जीव जान जाता है कि ये दो उदाहरण जीवकी सत्ताके सम्बन्धमें नहीं कहे गये हैं, केवल जीवके स्थूल और

लिंग शरीरमें जो आत्मबुद्धि है, उसके सम्बन्धमें ही कहे गये हैं, तब वे यथार्थ बात को जान पाते हैं।"

--चै० शि० १।६

१०. मायावादी किस प्रकार कृष्णापराधी हैं ?

"जो मायावादी हैं, वे स्वरूपतः कृष्ण-अपराधी हैं। वे कहते हैं कि कृष्ण-मूर्त्ति, कृष्णनाम, और कृष्ण लीला—सभी ही मायिक हैं। 'मायिक' शब्दका अर्थ है माया-मिश्रित अर्थात् जड़मय। मायावादीके विचार से शुद्ध तत्त्व—निराकार और निर्विशेष है, कोई कार्य करनेके लिये वही शुद्ध तत्त्व मायाको आश्रय कर राम-कृष्णादि जड़ीय शरीर ग्रहण करता है। शुद्ध तत्त्वका नाम ब्रह्म है, परमात्मा या चैतन्य और राम-कृष्णादि मूर्त्ति-जड़ीय है। राम-कृष्णादि नाम भी जड़-शब्दके अधीन हैं एवं राम-कृष्णादिके विलास भी जड़ाश्रित हैं। तब जीव और राम-कृष्णादिमें भेद यही है कि जीव अपने कर्म दोष या गुणोंसे जड़ शरीर पानेके लिये बाध्य होता है। किन्तु चैतन्य अपनी इच्छासे जड़ शरीर ग्रहण कर जगतमें कार्य करते हैं एवं अपनी इच्छासे पुनः जड़ शरीर त्याग करते हैं। अतः राम-कृष्णादिके नाम, स्वरूप और लीला आदि मायाका आश्रय ग्रहण करनेसे ही सम्पन्न होते हैं—ऐसा उनका कहना है। जब तक साधक ज्ञान प्राप्त नहीं करता, तब तक राम-कृष्णादिकी उपासना करता है। ज्ञान प्राप्त होने पर ब्रह्म परमात्मा, चैतन्य--इन नामोंका जप करता है, तब राम-कृष्ण आदि जड़ीय नामोंके जपने की एवं उनके रूप ध्यान करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। अतः मायावादी राम-कृष्ण आदि स्वरूपोंको शुद्ध तत्त्वकी अपेक्षा हेय ज्ञान करते हैं। इसीलिये मायावादी लोग कृष्ण-अपराधी हैं।"

--'मायावादी काहाके बलि ?' स० तो० ५।१२

११. मायावादीका कृष्ण कीर्त्तन क्या नामापराध नहीं है ?

"मायावादी साधनकालमें जो कृष्ण कीर्त्तनादि करते हैं, वह भी अपराध है। शुद्ध भक्तके लिये उनके कीर्त्तनमें अनुमोदन करना उचित नहीं है। क्योंकि उनके सम्पर्कसे नामापराध होनेकी ही सम्भावना है। मायावादी लोग यद्यपि कृष्ण-कीर्त्तनमें अश्रु-पुलकादि और अन्यान्य सात्त्विक भाव प्रकाश करते हैं, लेकिन वे सभी भाव शुद्ध नहीं हैं, वे केवल सात्त्विक भावाभास प्रतिबिम्ब-लक्षण अपराध-विशेष हैं।"

—'मायावादी काहाके बलि ?' स० तो० ५।१२

१२. मायावादी-भाष्य और विचारादि भक्त मात्रके लिये ही सुनने योग्य क्यों नहीं हैं ?

"यद्यपि तुम लोगोंका चित्त कृष्णनिष्ठ होनेसे शंकर-भाष्यादि सुनकर विकृत नहीं होता, फिर भी उस मायावादमें 'ब्रह्म-चित्स्वरूप निराकार है, यह जगत मायामात्र या मिथ्या है; जीव वस्तुतः नहीं है,—केवल अज्ञान द्वारा कल्पित है एवं ईश्वरमें माया-मुग्धतारूप अज्ञान ही विद्यमान है'—इत्यादि विचार वर्त्तमान हैं। इन सब बातोंको सुन-कर भक्तको बड़ा दुःख होता है।"

--अ० प्र० भा० अ २।९८-९९

१३. नास्तिकता और अद्वैतवादकी जड़ कहाँ है ?

"अज्ञानसे प्राकृत-पूजा एवं अतिज्ञानसे नास्तिकता और अद्वैतवादका जन्म हुआ है। प्राकृत-पूजा दो प्रकारकी है—अर्थात् अन्वय रूपसे प्राकृत धर्मको भगवज्ज्ञान एवं व्यतिरेक भावसे उसी धर्ममें भगवद्-बुद्धि। प्राकृतान्वय-साधक लोग भौम (जड़ीय) मूर्त्तिको भगवान कहकर पूजा करते हैं, प्राकृत-व्यतिरेक-साधक लोग प्राकृतिक धर्मके व्यतिरेक भावोंको ब्रह्म समझते हैं—ये लोग ही निराकार निर्विशेष और निरवयववाद प्रतिष्ठा करते हैं।"

—'उपसंहार', कृ० सं०

१४. जड़-कर्मनिष्ठ और अतिज्ञानका क्या फल है ?

"अतएव इस प्रकारके निराकार और साकार-वाद, दोनों ही अज्ञान द्वारा उत्पन्न और परस्पर विवाद युक्त हैं। ज्ञानका अति-क्रम कर युक्ति तर्कनिष्ठ होनेसे आत्माको नित्य मानना नहीं चाहती। इस अवस्थामें नास्तिकताका उदय होता है। ज्ञान जब युक्ति के अनुगत होकर अपना स्वभाव परित्याग करता है, तब आत्माके निर्वाणकी खोज करता है, इस अतिज्ञानद्वारा उत्पन्न चेष्टा द्वारा जीवका मङ्गल नहीं होता।"

—'उपसंहार', कृ० सं०

१५. थियोसफिष्ट-मत क्या अद्वैतवादका प्रकारान्तर नहीं है ?

"अमेरिका आदि देशोंमें जो थियोसफिष्ट मत प्रचारित हो रहा है, वह भी अद्वैतवाद ही है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि पंडित-अभिमानी लोग जिस मतका पोषण करते हैं, उसका विचार-शक्ति रहित व्यक्ति अनुमोदन किया करते हैं। हमारे देशमें दत्तात्रेय, अष्टावक्र और शंकर आदि तर्कप्रिय पण्डिता-भिमानी व्यक्तियोंने इस मतको समय-समय पर कुछ-कुछ भिन्नाकारमें विस्तार किया है। आजकल वैष्णव मतके अतिरिक्त अन्य सभी मत ही इस मतके अनुगत हैं।"

—चै० शि० ५।३

१६. नास्तिकता और निर्वाणवाद क्या चेतनकी अस्वस्थताके लक्षण नहीं है ?

"सत्य अवस्था प्राप्त होकर वे (जीव) जब अनेक प्रकारकी विद्याओंकी आलोचना करते हैं, तभी ही कुतर्कद्वारा इस विश्वासको कुछ परिमाणमें आच्छादन कर या तो नास्तिकता या अभेदवादके अन्तर्गत निर्वाणवादके लिये मनमें स्थान देते हैं। ये सब घृणित विश्वास केवल निर्बल चेतनकी अस्वस्थताके लक्षण हैं—यही समझना होगा।"

—चै० शि० १।१

१७. अतिज्ञान या अभेदवाद क्या सत् युक्तिके द्वारा प्रमाणित हो सकते हैं ?

"सत् युक्तिके द्वारा भी अतिज्ञान स्थापित नहीं हो सकता। निम्नलिखित चार विचार प्रमाणके रूपमें दिये जा रहे हैं—

१. ब्रह्म निर्वाण ही यदि आत्माका चरम प्रयोजन होता तो ईश्वरकी निष्ठुरतासे आत्मा की सृष्टिकी सृष्टि हुई है, ऐसी कल्पना करनी पड़ती है, क्योंकि यदि वे ऐसी असत् सत्ताकी

उत्पत्ति नहीं करते, तो जीवोंको कष्ट नहीं होता। ब्रह्मको निर्दोष करनेके लिये मायाको सृष्टि-कर्त्री कहना ब्रह्मेतर स्वाधीन तत्त्व स्वीकार करना हुआ।

२. आत्माके ब्रह्म निर्वाणमें ब्रह्म या जीव किसीकी प्राप्य कोई वस्तु नहीं है।

३. परब्रह्मका नित्य-विलास रहने पर आत्माके ब्रह्म-निर्वाणका प्रयोजन या आवश्यकता नहीं है।

४. भगवच्छक्तिके उद्बोधनरूप विशेष-नामक धर्मको सर्वावस्थामें नित्य कहकर स्वीकार नहीं करनेसे सत्ता, ज्ञान और आनन्दकी सम्भावना नहीं रहती। उसके अभावमें ब्रह्मके स्वरूप और संस्थानका अभाव होता है एवं ब्रह्मके अस्तित्वमें भी संशय होता है। विशेष पदार्थ 'नित्य' होनेसे आत्मा का ब्रह्म निर्वाण नहीं होता।"

—'उपसंहार', वृ० सं०

जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

भगवानका भक्तवात्सल्य

अतन्द्रित-चमूपति-प्रहित-हस्तमस्वीकृत-प्रणीत-मणिपादुकं किमिति विस्मृतान्तःपुरम्।
अबाहन-परिक्रियं पतगराजमारोहतः करिप्रसर-बृंहिते भगवतस्त्वराये नमः॥

(श्रीपद्यावली, श्रीदक्षिणात्यकृत श्लोक)

भक्तोंपर भगवानका कैसा वात्सल्य है इस बातको दक्षिण देशके एक भक्तने इस प्रकार वर्णन किया है—महान मगरद्वारा पीड़ित श्रीगजराजने आर्त्तस्वरसे जब भगवानकी स्तुति की, तब उसे छुड़ानेके लिये भगवानके हृदयमें इतनी अधिक उतावली (शीघ्रता) उदय हुई कि जब गरुड़जी जो भगवानके सेनापति हैं, वहाँ आकर आपको चढ़ानेके लिये हाथ फैलाये, तब उसको भी आपने अपने हस्तकमलसे भी नहीं पकड़ा। सेवकों द्वारा लाई गई मणिमयी पादुका भी आपने धारण नहीं की। बल्कि वे यह सोचने लगे—"आहा! इतनी शीघ्रतासे मुझे कौन हठात् बुला रहा है? मैं शीघ्र ही उसी स्थान पर जाऊँगा।" इस अवसरमें वे अन्तःपुरस्थ अपनी श्री, भू, लीला आदि प्रियाओंको भी भूल गये एवं गरुड़जी पर भी नहीं बैठे; अति शीघ्रतासे आकर उन्होंने गजराजको बचाया। अतः ग्राहसे गजराजको बचानेवाली भक्तवात्सल्यरूपा भगवानकी शीघ्रताको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ और निवेदन करता हूँ कि हे भगवन् त्वरे! गजराजको तो एक ही ग्राहने ग्रसा था। मुझे तो काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य आदि अनेकों ग्राह निगले ही जा रहे हैं। हे दयामय! शीघ्रतापूर्वक मुझे बचाइये।

सन्दर्भ-सार

(भक्तिसन्दर्भ–२३)

संसारी लोग प्राण, मन, वचन, कर्म और धन आदिके द्वारा अपने शरीर, गृह या सन्तान आदिके लिये जो कुछ भी करते हैं, वे सभी चेष्टाएँ जड़में पानी न देकर वृक्षके डाल, पत्ते आदिमें पानी देनेकी तरह बेकार हो जाती हैं, यदि उससे अद्वयज्ञान वस्तु भगवानकी सेवा न हो।

ज्ञान रूपा भक्तिका निर्गुणत्व दिखलाकर अब क्रियारूपा भक्तिका निर्गुणत्व कहा जा रहा है। श्रवण-कीर्त्तन रूपा पराभक्तिकी बात तो दूर रहे, भगवानसे सम्बन्ध युक्त केवल वासरूपा भक्तिका भी निर्गुणत्व वर्त्तमान है।

वानप्रस्थी व्यक्तियोंका वनमें वास करना सात्त्विक है, गृहस्थ लोगोंका ग्राममें वास करना राजसिक है, द्यूत क्रीड़ा आदि कलिके स्थानोंमें वास करना तामसिक एवं भगवानके मन्दिर, धाम आदिमें वास करना निर्गुण है।

अब भगवानसे सम्बन्धित सभी क्रियाओं का ही निर्गुणत्व कहा जा रहा है। अनासक्त होकर कार्य करनेवाले व्यक्ति सात्त्विक अनित्य वस्तुमें आसक्तियुक्त हैं। कर्म करने वाले व्यक्ति रजोगुणके आश्रित हैं अर्थात् विषय भोगोंमें आसक्तियुक्त व्यक्तियोंकी सभी क्रियायें राजसिक हैं। सत् और असत्के विचारसे रहित क्रियायें तामसिक हैं एवं भगवानके आश्रित सेवक भक्तोंके सभी कार्य अहंकार और आसक्तिरहित होनेके कारण गुणातीत हैं अर्थात् एकमात्र भक्तके कर्म ही निर्गुण हैं। केवल भगवानसे सम्बन्धित क्रियाओंको निर्गुण बतलाकर अब श्रद्धाका विचार कहा जा रहा है। ज्ञान या मोक्षसे सम्बन्धित श्रद्धा सात्त्विक है, कर्मोंमें प्रवृत्त करने वाली श्रद्धा राजसिक है, अधर्मके कार्यों से सम्बन्धित श्रद्धा तामसिक है एवं भगवान की सेवासे सम्बन्ध रखने वाली श्रद्धा निर्गुण है।

यज्ञाय यज्ञपतये विधिनैपुणाय
योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं
हास्यन् मृगत्वमपि यः समुदाजहार॥
(भा० ५।१४।४५)

मृग शरीरको छोड़ते समय राजर्षि भरत ने "यज्ञस्वरूप, यज्ञादियोंके फलदाता, वैध धर्मके अनुष्ठाता साक्षात् योगेश्वर, सांख्य अर्थात् ज्ञान ही जिनका प्रधान फल है, जो हम पर नियन्त्रण करनेवाले हैं, उन्हीं भगवान श्रीहरिको नमस्कार है" उच्चस्वरसे उच्चारण किया था।

मृग शरीरसे मृत्युके समयमें ऐसे वाक्य उच्चारण करना अत्यन्त असम्भव होनेसे

उस प्रकारकी कीर्त्तनाख्या भक्ति जिस किसी समय-विचार या कुल-विचारके अधीन नहीं है। परन्तु स्वतन्त्रता युक्त और स्वप्रकाश वस्तु है—यही बात प्रमाणित हो रही है।

गजेन्द्रके वृत्तान्तमें इसी प्रकार मृत्यु-काल उपस्थित होने पर हाथीके जन्ममें भी भगवान के गुण, स्तुति आदिके कीर्त्तन द्वारा कीर्त्तनाख्या भक्तिकी देश-काल-पात्र आदिसे निरपेक्षता जाननी होगी।

भक्तिकी साधन-दशामें भी परम सुख प्राप्त होता है—

अतो वै कवयो नित्यं
भक्तिं परमया मुदा।
वासुदेवे भगवति
कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥
(भा० १।२।२२

इसी कारणसे यथार्थ पण्डित लोग बड़े आनन्दपूर्वक साधन और सिद्ध अवस्थामें भी आत्माको प्रसन्न करनेवाली भगवान् वासुदेव की भक्ति करते हैं।

मत्सेवया प्रतीतं ते
सालोक्यादि-चतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णा
कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥
(भा० ९।४।६७)

मेरी सेवा करनेसे अपने आप ही सालोक्य आदि चार प्रकारकी मुक्तियाँ प्राप्त होने पर भी मेरे शुद्ध भक्त लोग मेरी सेवा कर सभी मनोरथ पूर्ण हो जानेके कारण, जब उन मुक्तियोंकी भी इच्छा नहीं रखते, तब समय के प्रभावसे परिवर्तनशील एवं विनाश होने वाली अनित्य वस्तुओंकी इच्छा नहीं रखते—इस विषय में क्या संदेह है अर्थात् उसमें मेरे भक्तोंकी बिल्कुल ही स्पृहा नहीं रहती।

"एवं निर्जितषड्वर्गैः
क्रियते भक्तिरीश्वरे"
(भा० ७।७।३३)

सद्गुरुकी शुश्रुषा आदिके द्वारा काम आदि शत्रुओंको जीतकर साधक लोग भगवान के प्रति भक्ति किया करते हैं, उसके द्वारा ही भगवानके प्रति रति प्राप्त होती है—प्रह्लादजीके द्वारा कहे गये इस वाक्यमें भक्तिकी भगवानके प्रति रति प्रदान करने की बात कही गई है।

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजा।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥
(भा० ७।७।५१)

इस श्लोक द्वारा यही बात स्पष्ट हो रही है कि द्विजत्व, देवत्व, ऋषित्व, सदाचार, बहुज्ञता आदि कुछ भी भगवान मुकुन्दको सन्तोष प्रदान करनेमें समर्थ नहीं हैं, केवल भक्ति ही एकमात्र उन्हें प्रसन्न कर सकती है।

श्रीनृसिंहदेवसे श्रीप्रह्लादजीने इस प्रकार कहा है—

मन्ये धनाभिजन-रूप-तपः-श्रुतौज-
स्तेजः प्रभाव-बल-पौरुष-बुद्धियोगाः।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥
(भा० ७।९।९)

धन, सत्कुलमें जन्म, सौन्दर्य, तपस्या, पाण्डित्य, इन्द्रिय-पटुता, कान्ति, प्रताप, शारीरिक बल, उद्यम, प्रज्ञा (तीव्र बुद्धि)

अष्टाङ्ग-योग—ये बारह गुण भक्तिके न रहने पर पुरुषोत्तमकी आराधनाके योग्य नहीं हैं। किन्तु श्रीहरि केवल भक्तिके प्रभावसे गजेन्द्रके प्रति भी संतुष्ट हो गये थे।

यदि कहा जाय कि भक्तिद्वारा नित्यानंद स्वरूप भगवानको कैसे सुख प्राप्त हो सकता है? क्योंकि ऐसा होने पर सर्वश्रेष्ठत्व या सर्वाधिक्य और नित्यत्वके साथ विरोध होता है। तात्पर्य यह है कि इससे भगवानके सुखकी उत्पत्ति स्वीकार करने पर उनका सर्वश्रेष्ठत्व या सर्वाधिक्य और नित्य सुख-रूपत्व अस्वीकार करना होगा अर्थात् भगवान में अल्प और अनित्य सुख मानना पड़ता है। इसके उत्तरमें ऐसा कहा जा सकता है शास्त्रों में भगवानका असीम आनन्दरूपत्व और नित्य रूपत्व सुना जाता है। पुनः भक्तिका भी भगवद्-प्रीणन सुना जाता है। अतः सिद्धान्त यही है कि उन परमानन्द स्वरूप भगवानको और उनके सेवकोंको आनन्द प्रदान करनेवाली ह्लादिनी नामकी जो शक्ति हैं, वे प्रकाशमान वस्तुकी ही स्व-पर-प्रकाशिका शक्तिकी तरह उसकी परम वृत्तिरूपा हैं। उन्हीं ह्लादिनी शक्तिके सम्बन्धमें ही उन्हें अधिक प्रीति प्राप्त होती है। इसलिये स्वयं प्रेमरूप होने पर भी भक्ति द्वारा ही उनको प्रीति प्राप्त होती है। यह बात भा० ५।१५।१३ श्लोकमें कही गई है—

यत्प्रीणनाद्बर्हिषि-देव-तिर्यङ्
मनुष्य-वीरुत्तृणमाविरिञ्चात्।
प्रीयेत सद्यः स ह विश्वजीवः
प्रीतिः स्वयं प्रीतिमगाद्गयस्य॥

जिनके संतुष्ट होनेसे देव, तिर्यक्, मनुष्य, लता, तृणादि आब्रह्म-स्तम्ब तक सभी ही तुरन्त संतुष्ट हो जाते हैं, ऐसे सर्वान्तर्यामी भगवानने स्वयं प्रीतिस्वरूप होने पर भी गय राजाके यज्ञमें प्रत्यक्ष रूपसे "तृप्त हो गया" ऐसा कहकर प्रीति प्रकाश की थी। विश्वजीव शब्दसे सभी जीवोंके कारणका बोध होता है। इसलिये ऐसे आत्माराम एवं पूर्णकाम भगवानकी अल्प गुणसम्पन्न वस्तुमें भी प्रीति होती है, यह बात इस श्लोकमें कही गई है—

तत्रोपनीतबलयो रदेर्द्वीपमिवाहृता।
आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा॥
प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा।
पितरं सर्वसुहृदमविता रमिवार्भकाः॥

(भा० १।११।४-५

अपनी-पूर्ण-प्राप्तिसे सर्वदा पूर्ण मनोरथ आत्माराम, सभी सेवकोंके सुहृद और रक्षक भगवान श्रीकृष्णके द्वारकामें उपस्थित होने पर प्रजा लोग सूर्यके उद्देश्यसे दीपदान तरह उन्हें बड़े ही आदरके साथ उपहारादि समर्पण कर बालक जिस प्रकार पिताका आदर करते हैं, उसी प्रकार प्रीतिसे खिले हुए मुखसे हर्ष-गद्गद वचनोंसे श्रीहरिका गुणगान करने लगे। दीप सूर्यके निकट अति तुच्छ होने पर भी सेवकको सेवाके अन्तर्गत होनेके कारण उसे अत्यन्त प्रीतिके साथ ग्रहण किया जाता है। उनकी प्रीतिमें जो असाधारण गुण वर्त्तमान है, वह सर्वसुहृद विशेषण द्वारा ही व्यक्त हुआ है। अविता अर्थात् रक्षक—यह विशेषण उनके सर्वसुहृद्-गुणका कारण है। पुनः जिस प्रकार अपने सम्बन्धके अभिमानसे युक्त एवं प्रीतिमान पुत्रके प्रति पिताकी प्रीति-विशेष उत्पन्न

होती है, उसी प्रकार आत्माराम एवं पूर्ण काम होने पर भी अपनी प्रजाके प्रति प्रीतियुक्त भगवानसे प्रजा लोग कहने लगे। इस प्रकार कल्पतरुके उदाहरणमें भी भगवानकी भक्ति-सम्बन्धी करुणा यथार्थ रूपमें प्रतिपादित होती है। क्योंकि जो अपने हृदयमें भगवानकी प्रीतिकी प्रार्थना करते हुए भजन करते हैं, उनको ही वह वह सहज प्रीति प्रदान करना कर्त्तव्य है। इसलिये स्वयं आनन्दस्वरूप होने पर भी भक्तके प्रति भगवानकी प्रीतिमें भक्ति ही एकमात्र कारण है।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत

(मधुर भक्ति-रस)

(गतांक पृष्ठ १४४ से आगे)

स्तम्भ-स्वेदादि आठ सात्त्विक भाव इस रसमें सात्त्विक भाव हैं। उग्रता एवं आलस्यको छोड़कर सभी संचारी भाव इस रसके व्यभिचारी भाव हैं।

मधुरा रति ही इस रसका स्थायी भाव है। अभियोग, विषय-सम्बन्ध, अभिमान, तदीय-विशेष, उपमा एवं स्वभावसे रतिका उदय होता है। स्वभावसे जिस रतिका उदय होता है, वही श्रेष्ठ है। जो धर्म अन्य कारण की अपेक्षा न कर प्रकाश पाता है, वही स्वभाव है। निसर्ग एवं स्वरूप भेदसे स्वभाव दो प्रकारका है। सुदृढ़ अभ्यास द्वारा उत्पन्न संस्कारको निसर्ग कहा जा सकता है। गुणरूप श्रवणादि उसको जगानेके लिये सामान्य कारण मात्र हैं। जीवके बहुजन्म सिद्ध सुदृढ़ रत्याभाससे जो संस्कार होता है, वही निसर्ग है। अजन्य (जन्मरहित नित्यवर्त्तमान), अनादि स्वतःसिद्ध भावको स्वरूप कहा जा सकता है। वह कृष्णनिष्ठ, ललनानिष्ठ एवं उभयनिष्ठ भेदसे तीन प्रकारका है। गोकुल-ललनाओंकी कृष्ण रति स्वभावज अर्थात् स्वरूपसिद्ध है। साधन-सिद्धाओंकी रति निसर्गसिद्ध है। साधकोंकी रति अभियोगादि द्वारा जागृत होती है। साधनसिद्ध होने पर ललनानिष्ठ स्वरूपकी स्फूर्त्ति प्राप्त होती है।

साधारणी, समञ्जसा एवं समर्था भेदसे रति तीन प्रकारकी है। गोकुलदेवियोंकी रति समर्था है। महिषियोंकी रति समञ्जसा है। कुब्जाकी साधारणी रति है। रति सर्वातिक्रम युक्त सामर्थ्यके कारण समर्था नाम प्राप्त होती है। यह गाढ़ सर्वविस्मरण-कारिणी शक्तिविशिष्टा है। विरुद्ध भाव द्वारा

अभेद्यरूपसे दृढ़ा होने पर प्रेम नाम प्राप्त होती है। प्रेम क्रमशः अपना माधुर्य प्रकाश कर स्नेह मान, प्रणय, राग, अनुराग एवं भाव रूप धारण करता है। इक्षुदण्ड (गन्ना) बीज, इक्षुरस, गुड़, खण्ड, शर्करा, सिता (मिश्री) और क्रमशः सितोत्पल होता है। उसी प्रकार रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग एवं भाव—एक ही क्रमोन्नति है। भाव शब्दसे महाभाव। भक्तका जिस जातीय प्रेम हो, कृष्णका भी उसी जातीय प्रेमोदय होता है। मधुर रसमें युवक-युवतीके बीच ध्वंसका कारण उदित होने पर भी जो ध्वंसरहित भावबन्धन होता है, वही प्रेम है। प्रेम प्रौढ़, मध्य एवं मन्द भेदसे तीन प्रकार का है।

पराकाष्ठा प्राप्त होकर जो प्रेम चिद्दीप-दीपन लक्षण प्राप्त हो, एवं हृदयको द्रवित कर दें, वही प्रेम ही स्नेह है। घृतस्नेह एवं मधु स्नेह भेदसे स्नेह दो प्रकार का है। अत्यन्त आदरमय स्नेह ही घृतस्नेह है। अत्यन्त अपनापनरूप स्नेह ही मधुस्नेह है। रतिका आकार दो है अर्थात् मैं उनकी हूँ, ऐसी भावनामयी रति एवं वे मेरे हैं, ऐसी भावनामयी रति। घृतस्नेहमें मैं उनकी हूँ—यह भाव चन्द्रावलीका स्नेह है। मधु स्नेहमें वे मेरे हैं, यह भाव श्रीराधाजीका स्नेह है। उत्कृष्ट स्नेह अदाक्षिण्य एवं कौटिल्य प्रकाश-कर मान होता है। उदात्त एवं ललित भेदसे मान दो प्रकारका है। अभेद मननरूप विश्रम्भयुक्त मान ही प्रणय है। किसी स्थानमें स्नेहसे प्रणय उत्पन्न होकर मान धर्म प्राप्त होता है। किसी स्थानमें स्नेहसे मान होकर प्रणयत्व प्राप्त होता है। प्रणयके उत्कर्षमें अत्यन्त अधिक दुःख एवं सुख रूपसे जो जान पड़ता है, वही राग है। नीलिमा एवं रक्तिमा भेदसे राग दो प्रकारका है। स्थायी मधुर भाव, तैंतीस व्यभिचारी भाव एवं हासादि सात रस एक साथ मिलकर इकतालीस भावान्तर हैं। जो राग स्वयं नव-नव भावसे सदा अनुभूत प्रियको प्रतिक्षणमें नव-नव कर देता है, वही अनुराग है। इसमें वशीभाव, प्रेम वैचित्त्य एवं अप्राणीमें जन्म-लालसा पूर्ण होकर अनुराग उन्नति धारण करता है एवं विप्रलम्भमें कृष्णकी स्फूर्त्ति कराता है। विप्रलम्भ ही प्रेमवैचित्त्य है। यावदाश्रय (सम्पूर्ण आश्रय) वृत्तिरूप अनुराग स्वयं वेद्य दशाको प्राप्त होकर प्रकाशित होने पर वही भाव या महाभाव होता है। श्रीराधिकामें अनुरागके आश्रय-तत्त्वकी चरम सीमा है। श्रीकृष्णमें मूर्त्तिमान शृङ्गार रूपसे विषय तत्त्वकी चरम सीमा है। वह अनुराग रूप स्थायी भावकी इयत्ता या चरम सीमामें सम्पूर्णतम आश्रय वृत्ति होती है। वेद्यदशा अर्थात् तत्प्रेयसी-जनविशेषकी संवेद्य दशा प्राप्त होकर यथा समयमें सुदीप्तादि सात्त्विक भावके द्वारा प्रकाशमान होता है। आश्रय एवं विषयको अभिन्न रूपसे संयोजित कर महा सात्त्विक विकार द्वारा आर्द्रीभूत करता है।

कृष्णके स्वकीय रसमें महाभाव दुर्लभ है। व्रजदेवियोंके लिये यह एकमात्र संवेद्य है। रूढ़ एवं अधिरूढ़ भेदसे महाभाव दो प्रकारका है। निमेष मात्र भी असहिष्णुता, उपस्थित व्यक्तियोंके हृदयको मथ देना, कल्प-क्षणत्व, कृष्णसौख्यमें आर्त्ति या विपत्तिकी

आशंकासे खिन्नता, मोहादिके अभावमें आत्मादि सर्वविस्मरण, क्षणकल्पत्व—ये सभी अनुभाव संभोग एवं विप्रलम्भमें यथा समय एवं यथार्थ रूपसे अनुभूत होते हैं। अधिरूढ़में मोदन एवं मादन—ये दो प्रकारके भेद हैं। मोहन या मोदनसे दिव्योन्माद होता है उसीमें उद्घूर्णा एवं चित्रजल्पादि होते हैं। विप्रलम्भ इन दोनों भावोंका उदय होता है। प्रजल्प, परिजल्पित, विजल्प, उज्जल्प, संजल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प एवं सुजल्प भेदसे चित्रजल्पके दस अंग हैं। (भ्रमर-गीता)

ह्लादिनीसार प्रेम जब सर्वभावोद्गम द्वारा उल्लास युक्त होते हैं, तब ही वे परात्पर भावरूप मादन नामसे श्रीमती राधिकाजीमें नित्य विराजमान हैं।

कृष्ण ही रस हैं। वे अनन्त, सर्वज्ञ एवं सर्व शक्तिमान हैं। उनके लिये कोई भी वस्तु या कार्य अगोचर, अप्राप्य या अघटनीय नहीं है। वे अचिन्त्य भेदाभेद धर्मके कारण नित्य ही एकरस एवं बहुरस हैं। एक रसमें वे समस्त आत्मसात् कर आत्माराम हैं। तब उनसे कुछ पृथक् रस रूपसे नहीं रहता। पुन वे युगपत् बहुरस हैं। इसलिये आत्मगत रस को छोड़कर उस अवस्थामें परगत रस एवं आत्मपर-योगगत विचित्र रस है। अन्तिम दो रसकी अनुभूतिसे ही उन्हें लीलासुख प्राप्त होता है। परगतरस ही चरम विस्तारको प्राप्त कर परकीय रस है। वृन्दावनमें यह चरम विस्तृति अत्यन्त प्रस्फुटित है। अतएव आत्मगत रसके परिज्ञात परम सुखविशिष्ट परकीय रसमें ही मादन सीमा है। यह विशुद्ध रूपसे अप्रकट लीलामें गोलोकमें वर्त्तमान है। किञ्चित् मायिक विश्वास या प्रतीतियुक्त होकर व्रजमें अवतीर्ण है।

हे प्रेमारुरुक्षु साधक भक्तों! आप लोगोंने वैधी-भक्तिद्वारा भावप्राप्त-मार्गसे इस जगत के स्थूल चौदह स्तरोंका (भुवनोंका) अतिक्रमण किया है। इन चौदह स्तरोंके ऊपरी भागमें लिंग जगतके हरधाम रूप चार स्तरोंका परित्याग कर ऊर्द्ध्वगामी हों। विरजारूप विशुद्ध सत्त्वमयी दो स्तरोंका भेद करें। तब गोलोक वृन्दावनकी सीमा प्राप्त कर सकेंगे। ये दोनों स्तर ब्रह्मधाम एवं वैकुण्ठ हैं। गोलोकमें आत्म भावमय पाँच स्तर देदीप्यमान हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। मधुर स्तरमें आकर श्रीगोपी देहरूप अपना नित्य सिद्ध चिन्मय देह अवलम्बन कर श्रीमती राधिकाके यूथमें श्रीमती ललिताके गणोंमें प्रवेशपूर्वक श्रीरूप-मञ्जरीकी कृपासे अपने हृदयमें शुद्ध चिन्मय विभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावके द्वारा अपने स्थायी भावको रसावस्था में उन्नत करें। नामाकृष्ट रसज्ञ होकर अनायास ही महाभाव तक प्रेमधन अर्जन करें एवं कृतकृतार्थ होवें। अपना वर्त्तमानअधिकार विचार एवं जड़देहमें युक्त वैराग्य एवं निरंतर नामरस पान कर सर्वोत्तम अधिकार प्राप्त करें। इस मधुर रसके विचारमें मैंने अधिक प्रमाण संग्रह नहीं किया है। क्योंकि जो व्यक्ति इसमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त करेंगे, वे लोग इस रसकी सभी बातोंको श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थमें एवं जैव-धर्ममें देखेंगे। (क्रमशः)